



INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

पंचक्लेशो का मूल अविद्या— विवेचनात्मक अध्ययन

विशाल कुमार भारद्वाज

शोध छात्र

डॉ० नवज्योति सिद्धू

प्रवक्ता योग विज्ञान विभाग

चौ० चरण सिंह विश्वविद्यालय मेरठ।

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन का सिद्धान्त है कि विद्या और अविद्या यही दो मुख्य बीज हैं। जब ये दोनों समान मात्रा में एक दूसरे से मिलते हैं तब तीसरा बीज भी उत्पन्न हो जाता है। मन, प्राण और वाक् तीनों अव्यय और जगत् के साक्षी माने जाते हैं। इनमें से प्राण जब मन को अधिक मात्रा में ग्रहण करता है तब वह विद्या कहलाता है और जब वह वाक् को अधिक मात्रा में लेता है तब अविद्या कहलाता है। यह अविद्या विद्या रूप आत्मा का वह स्वाभाविक विकार है जो कि बाहर के पदार्थों को अपने में मिला लिया करता है, जिससे ज्ञान निर्विषयक और सविषयक इन रूपों में बँट जाता है। जो निर्विषयक ज्ञान होता है वह आत्मा का मुख्य रूप है किन्तु वही जब बाह्य पदार्थों को अपने में समाहित कर सविषयक होता है तब विषयों के परिच्छेद से परिच्छिन्न बन जाता है। तात्पर्य यह कि ज्ञान में किसी विषय के प्रवेश होने की शक्ति को ही अविद्या कहते हैं।

इस अविद्या शक्ति में जो विषय बन कर प्रविष्ट हुआ जान पड़ता है वही 'काम' है। क्योंकि ज्ञान के साथ ही साथ इच्छा, आकर्षण का संवेग बढ़ता है और यदि वह ज्ञान में प्रविष्ट न होता तो आकर्षण की इच्छा न होती, क्योंकि जिस मनुष्य ने जिस वस्तु का उपयोग, श्रवण, दर्शन, स्पर्शन कभी नहीं किया है उसे उस वस्तु का ज्ञान न होने से इच्छा

और आकर्षण नहीं उत्पन्न हो सकते। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि ज्ञान में जिस विषय का संस्कार उत्पन्न हो जाता है, वह वासना के रूप में ज्ञान में विद्यमान रहता है और जब उस विषय को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है, आकर्षण पैदा होता है तो उस इच्छा या आकर्षण को 'काम' कहते हैं। चूंकि वह इच्छा ज्ञान के विषय अर्थात् वासना से उठती है इस लिए उस विषय की वासना को भी 'काम' कहते हैं। वात्स्यायन का मुख्य अभिप्राय यही है। इस 'काम' के कारण ही एक वस्तु दूसरी वस्तु पर आकृष्ट हो कर संयोग करती है। इसलिए 'काम' को ही सृष्टि का अर्थात् दो वस्तुओं के मेल से नयी वस्तु की उत्पत्ति का कारण माना गया है।

श्री अरविंद के द्वारा दिया गया अवतरण-प्रक्रिया का विवेचन कुछ अर्थों में वेदान्त में चर्चाचत सृष्टि-विवरण के समान ही है, अन्तर यही है कि उनके विवरण में उनकी अपनी दृष्टि तथा उस दृष्टि के अनुरूप चर्चित अवधारणाओं का उपयोग हुआ है। वेदान्त में सामान्यतः सृष्टि का सम्बन्ध 'अविद्या' से दिखाया है, जिसके परिणामस्वरूप सृष्टि की वास्तविकता का बोध होता है। अज्ञान अथवा अविद्या के कारण ही हम जगत को वास्तविक समझ लेते हैं। इसका अर्थ है कि यह दृष्टि एक प्रकार के विस्मरण पर आधृत है— जहां सत् के वास्तविक स्वरूप का विस्मरण हो गया है। अद्वैत वेदान्त में तो यहां तक कहा गया है कि वस्तुतः 'सृष्टि' का प्रश्न ही नहीं उठता। उसके अनुसार तो वास्तविक दृष्टि से 'सृष्टि' की प्रतीति एक प्रकार से ब्रह्माण्डमूलक भ्रम है। जब यह प्रश्न उठता है कि इस 'भ्रम' की उत्पत्ति क्यों होती है, तो समाधान प्रस्तुत किया जाता है कि यह एक आनन्द का खेल है वेदान्त की भाषा में 'लीला' है।

कुछ उसी प्रकार श्री अरविंद भी सृष्टि का विवरण देते हुए इसे 'आत्म का अज्ञान में निमज्जन', 'आत्म का अज्ञान में प्रविष्ट हो जाना' कहते हैं। श्री अरविंद के अनुसार अज्ञान ईश्वरीय चेतना की अपने को आंशिक रूप में रोक रखने की शक्ति है। अज्ञान कोई पृथक विधा नहीं है, यह ईश्वरीय चेतना का ही अंश है। यह ईश्वरीय ज्ञान किसी भी रूप में निषेध नहीं, न उसके साथ इसकी किसी प्रकार की असंगति का प्रश्न ही उठता है। वस्तुतः एक छोर पर पूर्ण ईश्वरीय चेतना है, तो दूसरा छोर — दूसरी ओर की परिणति पूर्ण ज्ञान-शून्यता है। अज्ञान इन दोनों के बीच है— इसी कारण इसका फैलाव भी अत्यधिक है। यह ज्ञान नहीं है क्योंकि ईश्वरीय चेतना जैसा नहीं है, किन्तु यह ज्ञान-शून्यता अत्यधिक है। यह ज्ञान नहीं है क्योंकि ईश्वरीय चेतना जैसा नहीं है, किन्तु यह ज्ञान-शून्यता भी नहीं है। सृष्टि इसी क्षेत्र में आती है। अतः कहा जा सकता है कि 'सत्' की अपने को आंशिक रूप में रोक रखने की शक्ति जब कार्यरत होती है, तो इसका अर्थ है कि सत् अब 'अज्ञान' के क्षेत्र में उतर आया है—और यही सृष्टि है।

किन्तु, यह प्रश्न तो उठ ही जाता है कि क्या निरपेक्ष सत्त अज्ञान के क्षेत्र में उतरने का निर्णय लेता है? क्या 'ज्ञान' के क्षेत्र में रह कर सृष्टि नहीं हो सकती? और यदि उसे सृष्टि के लिये अज्ञान के क्षेत्र में उतरना आवश्यक है, तो क्या यह उस पर एक बन्धन—एक सीमा नहीं है? श्री अरविंद को यह अवगति है कि ऐसे संशय के बिन्दु इस स्थल पर उभरते हैं। वे इन प्रश्नों को इन संशयों का निराकरण अपने ढंग से करते हैं। उनका कहना कि ज्ञान में रह कर भी सृष्टि हो सकती है, किन्तु यह एक उच्चतर सृष्टि ही हो सकती है जिसे केवल ज्ञानी तथा द्रष्टा ही देख सकते हैं। अभी हम उस जगत की विवेचना कर रहे हैं जिसमें हम सभी सामान्य जीव रह रहे हैं। यह निम्नतर जगत है, अज्ञान के क्षेत्र में उजागर सृष्टि है। यह हमारी सृष्टि अज्ञान के हो क्षेत्र में है।

सृष्टि का इस प्रकार के विचार की विशिष्टता यह हो जाती है कि इस दृष्टि से सृष्टि को भ्रामक नहीं कहा जाता। यह भी ईश्वरीय चेतना को ही सीमित अभिव्यक्ति है—उस चेतना, उस ज्ञान का निषेध नहीं। अतः वह भ्रामक नहीं हो सकता। इस स्थल पर अद्वैत वेदान्त तथा श्री अरविंद के विचारों का अन्तर स्पष्ट होता है। श्री अरविंद के अनुसार सृष्टि अनिवार्यतः भ्रमरूप नहीं है। इसकी अपनी सत्ता है—इसका अपना स्थान है, जो सत्त के साथ पूर्णतया संगत है।

फिर भी, अभी तक हमारे संशय का पूर्ण निराकरण नहीं हो पाया—इस निम्नतर सृष्टि में, अज्ञान के क्षेत्र में सत्त को उतरने की क्या आवश्यकता है? क्यों यह सृष्टि होती है? इस संशय के पूर्ण निराकरण के लिये श्री अरविंद का 'माया' तथा 'लीला' विचार को देखना आवश्यक है।

भारतीय विचारकों ने 'अज्ञान' के सम्बन्ध में बहुत विचारा है तथा कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। कुछ लोगों ने इसे 'अज्ञान' कहा है, कुछ लोग इसे 'अविद्या' कहते हैं, तथा कुछ लोगों ने इसका आधार 'माया' में ढूँढा है, तथा माया को सत् के आवरण एवं विक्षेप की शक्ति माना है। किन्तु, किसी न किसी रूप में सभी यह मानते हुए प्रतीत होते हैं कि 'अज्ञान' ज्ञान का विपरीतार्थक है, तथा यह बन्धन तथा दुख का कारक है। इसी कारण प्रायः इन सभी विचारकों को अनुशंसा रही है कि आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य आत्म को अज्ञान से मुक्ति दिला ज्ञान के क्षेत्र में बिठा देना है। श्री अरविंद इस प्रकार के विचार को पूरी तरह नहीं स्वीकारते। वे इसे आंशिक रूप में अवश्य स्वीकारते हैं क्योंकि उनका भी कहना है कि विकास का अर्थ एवं लक्ष्य अज्ञान से शान की ओर अग्रसर होने में है। किन्तु इन विचारकों को जो मूल मान्यता है, उसे श्री अरविंद नहीं स्वीकारते। वे यह स्वीकारने को तैयार नहीं कि 'अज्ञान' 'ज्ञान' का विपरीतार्थक है—विरोधी है। अपने विचारों की मौलिकता में वे इस स्थल पर भी मौलिक है। वे मानते हैं कि 'ज्ञान' तथा 'अज्ञान' का

स्वरूप मूलतः एक कोटि का ही है। वे इनको विरोधी कहने वाले विचारकों की आलोचना भी करते हैं। उनका कहना है कि जब हम ज्ञान के सर्वाङ्गी, अद्वैत स्वरूप को स्वीकार रहे हैं, तो 'ज्ञान' एवं 'अज्ञान' पृथक कोटि का या विरोधी मानने में ताकिक कठिनाई उत्पन्न होगी। वस्तुतः ऐसा मानने से शान का सर्वाङ्गी अद्वैत रूप खण्डित होता है, तथा यह प्रश्न भी उठ जाता है कि यदि अज्ञान का स्वरूप ज्ञान से भिन्न कोटि का है, तो अज्ञान का आधार क्या है, अज्ञान स्थित कहां होता है—रहता कहां है ? अतः श्री अरविंद का कहना है कि यह मानना आवश्यक है कि जिसे हम 'अज्ञान' कहते हैं, वह भी वस्तुतः ज्ञान ही है—भले ही वह आंशिक हो, अपूर्ण हो, अयच्छेष्ट हो ।

श्री अरविंद इस विवाद के इतिहास का भी विवेचन करते हैं। कहते हैं कि ऋग वेद में भी ज्ञान तथा अज्ञान का भेद किया गया है, जहां ज्ञान को 'सत्य की चेतन अनुभूति' के रूप में कल्पित किया है (सत्यम्ऋतम्) तथा अज्ञान को सत्य की अचेतनता (अचित्ति) समझा गया है। इस विचार को वेदान्ती विचारकों ने पकड़ा, तथा इसी आधार पर इन दोनों के विरोध पर बल दे दिया, और 'विद्या' एवं 'अविद्या' को अवधारणाओं को बढ़ाया। किन्तु श्री अरविंद का कहना है कि वेदान्ती विचारक यह देख नहीं पाये कि इस भेद पर बल देने के फलस्वरूप जितनी समस्यायें सुलझती हैं, उससे कहीं अधिक समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। उसका मूल कारण यही है कि इस भेद पर बल देने के कारण 'ज्ञान' 'अज्ञान' के मध्य ऐसी गहरी खाई बन जाती है कि वेदान्ती विचारक उस खाई को पाट नहीं पाते। इसी कारण श्री अरविंद 'अज्ञान' को भी ज्ञान की ही कोटि का मानते हैं। अज्ञान ज्ञान नहीं है, किन्तु उसका ज्ञान नहीं होना इस कारण नहीं है कि उसका स्वरूप ही ज्ञान से भिन्न है, बल्कि इस कारण है कि दोनों में मात्र अपूर्णता का अत्यधिक अन्तर है। जिसे हम अज्ञान कहते हैं वह आंशिक तथा अपूर्ण ज्ञान है। उसकी आंशिकता अपूर्णता के कारण हम उस ज्ञान से भिन्न कोटि का समझ लेते हैं। श्री अरविंद स्पष्ट कहते हैं कि अज्ञान 'ज्ञान-शून्यता' नहीं है। एक छोर पर 'ज्ञान' है, दूसरे छोर पर, 'ज्ञान-शून्यता' है, इन दोनों के बीच स्थित फैलाव 'अज्ञान' का स्तर है, अज्ञान का वह रूप जो ज्ञान-शून्यता के निकट है, अधिक अपूर्ण ज्ञान है, तथा जैसे-जैसे वह ज्ञान की ओर अग्रसर होता है, वैसे-वैसे इसमें अपेक्षाकृत अधिक पूर्णता आती जाती है।

इस बात को श्री अरविंद अनेक ढंगों से स्थापित करते हैं। प्रथमतः उनका कहना है कि 'ज्ञान' को अवधारणा में हो 'मात्रा' का प्रश्न निहित है। कुछ ज्ञान अधिक पूर्ण होता है, कुछ कम । हम कह सकते हैं कि सर्वथा पूर्ण ज्ञान तो परम सत् का पूर्ण ज्ञान ही हो सकता है। इस दृष्टि से विश्व-सम्बन्धी ज्ञान, या पूरे ब्रह्माण्ड का ज्ञान भी पूर्णतया पूर्ण नहीं

माना जा सकता। तो पूर्ण ज्ञान को ही यदि 'ज्ञान' माना जाय तो उस दृष्टि से पूरे ब्रह्माण्ड का ज्ञान भी आंशिक ज्ञान है—तथा 'अज्ञान' की परिभाषा के अनुरूप उसे भी अज्ञान हो कहा जा सकता है। एक प्रकार से ज्ञान के हर श्रेष्ठतर स्तर से देखने पर निम्नतर स्तर का ज्ञान अज्ञान है, क्योंकि वह आंशिक है, अयथेष्ट है, 'अज्ञान को छाया' से मुक्त नहीं हो पाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'ज्ञान' तथा 'अज्ञान' का स्वरूप परस्पर विरोधी नहीं है। जो एक दृष्टि से 'ज्ञान' है, वही दूसरी दृष्टि से 'अज्ञान' है—निम्नतर स्तर की दृष्टि से जो ज्ञान है, उच्चतर स्तर की दृष्टि से वह अज्ञान है।

वस्तुतः जिसे हम अज्ञान कहते हैं वह भी ईश्वरीय चित्-शक्ति का ही रूप है। यह ईश्वरीय चेतना की वह शक्ति है जो अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति को रोक लेती है। अपने को व्यक्त करने की शक्ति यदि शक्ति है, तो अभिव्यक्ति को रोक रखने की शक्ति भी शक्ति ही है। इस दृष्टि से 'अज्ञान' निर्बलता का सूचक नहीं है, ज्ञान के समान यह भी शक्ति ही है। यह ईश्वरीय शक्ति ही है— भले ही वह ईश्वरीय शक्ति की अवरोधक शक्ति हो। ईश्वरीय शक्ति होने के कारण यह ईश्वरीय रूप को विपरीत अर्थ में प्रभावित या खण्डित नहीं करती। ईश्वरीय— स्वरूप के पूर्णतया व्यक्त होने में अवरोध उत्पन्न करने की शक्ति में भी ईश्वरीय ज्ञान आपवित है। उसमें यह बात निहित है कि इस सीमा तक, आंशिक रूप में ही सही, ईश्वरीय स्वरूप का कुछ ज्ञान उपलब्ध हुआ। यह भी आंशिक ईश्वरीय ज्ञान ही हुआ। इससे भी यह सिद्ध होता है कि 'ज्ञान' तथा 'अज्ञान' का स्वरूप एक जैसा है।

ज्ञान तथा अज्ञान के स्वरूप की समानता को स्थापित करने के पक्ष में श्री अरविंद का सबसे महत्त्वपूर्ण तर्क यह है जहां वे यह दिखाते हैं कि 'अज्ञान' तथा 'ज्ञान' एक ही विकास-प्रक्रिया के दो स्तर हैं। यह विकास-प्रक्रिया अब तक मानस के स्तर तक पहुंच पायी है। मानस का यह स्तर 'अज्ञान' का हो स्तर कहा गया है। अब यह स्तर इस उद्यम के लिये तत्पर हो रहा है कि वह ज्ञान के क्षेत्र में कूद लगा सके। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अज्ञान के स्तर की चरम परिणति 'ज्ञान' में ही है। श्री अरविंद का कहना है कि आत्म अज्ञानके स्तर में ही रह कर अन्तिम उत्थान-ज्ञान के स्तर में प्रवेश करने की हर तैयारी करता है। उस स्तर में प्रवेश करने में जो रोक है— वह एक प्रकार का ईश्वरीय झीना आवरण है एक पर्दा है, उस पर्दे के हटते ही आत्म अतिमानस के स्तर में प्रवेश कर जायगा। किन्तु अपनी ओर से उसकी सारी तैयारियां मानस अथवा अज्ञान के स्तर में ही होती हैं। अज्ञान के स्तर की तैयारी से ज्ञान के स्तर में प्रवेश सम्भव है—यही तो अज्ञान तथा ज्ञान के स्वरूप की समानता के पक्ष में सबल तर्क है।

माया और अविद्या

उपनिषदों में माया और अविद्या का विचार भी पूर्णतः व्याप्त है। शंकर के माया एवं अविद्या सिद्धान्त के संबंध में यह कहा जाता है कि शंकर ने इन्हें बौद्ध दर्शन से ग्रहण किया है। यदि यह सत्य नहीं है तो माया संबंधी विचार शंकर के मन की उपज है। दोनों विचार भ्रामक प्रतीत होते हैं। शंकर ने माया और अविद्या सम्बन्धी धारणा को उपनिषद् से ग्रहण किया है। प्रो० रानाडे ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *Constructive Survey of Upanisadic Philosophy* में यह दिखलाने का प्रयास किया है कि माया और अविद्या विचार का स्रोत उपनिषद् हैं।

उपनिषदों में अनेक स्थानों पर माया एवं अविद्या की चर्चा हुई है जिनमें से कुछ निम्नलिखित—

- (१) श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि ईश्वर मायाविन है। माया ईश्वर की शक्ति है जिसके बल पर वह विश्व की सृष्टि करता है।
- (२) छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा ही एकमान चरम तत्त्व है। शेष सभी वस्तुएँ नाम रूप मात्र हैं।
- (३) प्रश्न उपनिषद् में कहा गया है कि हम ब्रह्म को तब तक नहीं प्राप्त नहीं कर सकते जब तक कि हम भ्रम की अवास्तविकता से मुक्त नहीं होते हैं।
- (४) वृहदारण्यक उपनिषद् में अवास्तविकता की तुलना असत् एवं अन्धकार से की गई है। छान्दोग्य उपनिषद् में विद्या की तुलना शक्ति से तथा अविद्या की तुलना अशक्ति से हुई है।
- (५) श्वेताश्वतर उपनिषद् में ईश्वर की उपासना को माया के निवृत्ति के लिये अपेक्षित माना गया है। कहा गया है "हम ईश्वर की उपासना के द्वारा माया से निवृत्ति पा सकते हैं।"
- (६) छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार जगत् के असत्त्यों में सत्य तथा अनिश्चितताओं में निश्चितता निहित है। माया सत्य पर पर्दा डाल देती है तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप को छिपा देती है।
- (७) वृहदारण्यक उपनिषद् में असत् से सत् की ओर अन्धकार से प्रकाश की ओर मृत्यु से अमरता की ओर ले चलने की प्रार्थना की गई है। इससे प्रमाणित होता है कि अविद्या को असत्, अन्धकार तथा मृत्यु के तुल्य माना गया है।
- (८) मुण्डक उपनिषद् में अविद्या को ग्रन्थि कहा गया है, जिसे खोलने पर ही आत्मा का दर्शनसंभव है।

बन्धन और मोक्ष

अन्य भारतीय दर्शनों की तरह उपनिषद् में बन्धन एवं मोक्ष का विचार निहित है। मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है।

अविद्या बन्धन का कारण है। अविद्या के कारण अहंकार उत्पन्न होता है। यह अहंकार ही जीवों को बन्धन-ग्रस्त कर देता है। इसके प्रभाव में जीव इन्द्रियों, मन, बुद्धि अथवा शरीर से तादात्म्य करने लगता है। बन्धन की अवस्था में जीव को ब्रह्म, आत्मा, जगत् के वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है। इस अज्ञान के फलस्वरूप वह अवास्तविक एवं क्षणिक पदार्थ को वास्तविक तथा यथार्थ समझने लगता है। बन्धन को उपनिषद् में 'ग्रन्थि' भी कहा गया है। ग्रन्थि का अर्थ है बन्ध जाना ।

विद्या से ही मोक्ष सम्भव है क्योंकि अहंकार का छुटकारा विद्या से ही सम्भव है। विद्या के विकास के लिए उपनिषद् में नैतिक अनुशासन पर बल दिया गया है। इन अनुशासनों में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह प्रमुख हैं। मोक्ष की अवस्था में जीव अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान लेता है तथा ब्रह्म के साथ तादात्म्यता हो जाती है। जीव का ब्रह्म से एकल हो जाना ही मोक्ष है। जिस प्रकार नदी समुद्र में मिलकर एक हो जाती है उसी प्रकार जीव ब्रह्म में मिलकर एक हो जाता है। इस प्रकार मुक्ति ऐक्य का ज्ञान है। मोक्ष की अवस्था में एक ब्रह्म की अनुभूति होती है तथा सभी भेदों का अन्त हो जाता है। उपनिषद् में मोक्ष को आनन्दमय अवस्था माना गया है। मोक्ष की अवस्था में जीव का ब्रह्म से एकाकार हो जाता है। ब्रह्म आनन्दमय है, इसलिए मोक्षावस्था को भी आनन्दमय माना गया है। उपनिषद् में जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति दोनों की अवधारणा को स्वीकारा गया है। कठ उपनिषद् में कहा गया है कि जिस समय सम्पूर्ण कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं उस समय मर्त्य अमर हो जाता है। वह इसी शरीर में ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। "वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है वह यहीं पर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।" जीवन मुक्त संसार में रहता है, परन्तु संसार की अपूर्णताओं से प्रभावित नहीं हो पाता है। वह कर्म-नियम की अधीनता से मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार जल कमल के पतों है। अविद्या दुःखों का मूल कारण इसलिये है कि कार्य-कारण की श्रृंखला अविद्या पर आकर रुक जाती है। बुद्ध ने दुःखों का मूल कारण अविद्या को मानकर भारत के दार्शनिकों की परम्परा का पालन किया है। साँख्य, न्याय, वैशेषिक, शंकर और जैन इत्यादि दर्शनों में दुःख का मूल कारण अविद्या को ही ठहराया गया है। उपरोक्त व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि 'दुःख' का कारण 'जाति' है। 'जाति' का कारण 'भव' है। 'भव' का कारण 'उपादान' है।

उपादान का कारण 'तृष्णा' है। 'तृष्णा' का कारण 'वेदना' है। 'वेदना' का कारण 'स्पर्श' है। 'स्पर्श' का कारण 'षडायतन' है। 'षडायतन' का कारण 'नाम-रूप' है। 'नाम-रूप' का कारण 'विज्ञान' है। 'विज्ञान' का कारण 'संस्कार' है। संस्कार का कारण 'अविद्या' है। इस प्रकार दुःख के कारण की व्याख्या के सिलसिले में कार्यकारण श्रृंखला की ओर बुद्ध ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। इस श्रृंखला में बारह कड़ियाँ हैं जिसमें 'जरामरण' प्रथम कड़ी है: अविद्या अन्तिम कड़ी है तथा शेष कड़ियों का स्थान दोनों के मध्य आता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद को अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता है। इस सिद्धान्त को 'द्वादश-निदान' (The twelve sources) कहा जाता है। यह सिद्धान्त दुःख के कारण का पता लगाने के लिए बारह कड़ियों की विवेचना करता है जिसमें से प्रत्येक कड़ी को एक 'निदान' कहा जाता है। चूँकि 'निदानों' की संख्या बारह है, इसलिए इस सिद्धान्त को 'द्वादश निदान' कहा जाता है। प्रथम 'जरामरण' और अन्तिम 'अविद्या' को छोड़कर शेष दस निदानों को कभी-कभी 'कर्म' भी कहा जाता है।

इस नाम के अतिरिक्त इस सिद्धान्त को संसारचक्र (The wheel of the world) भी कहा जाता है क्योंकि यह सिद्धान्त इस बात की व्याख्या करता है कि मनुष्य का संसार में आवागमन किस प्रकार होता है। इस सिद्धान्त को 'भाव चक्र' (The Wheel of Existence) भी कहा जाता है, क्योंकि यह सिद्धान्त मनुष्य के अस्तित्व के प्रश्न पर विचार करता है। इस सिद्धान्त को 'जन्म-मरण चक्र' (The Cycle of Birth and Death) भी कहा जाता है क्योंकि यह सिद्धान्त मनुष्य के जीवन-मरण चक्र को निश्चित करता है। इसे 'धर्मचक्र' भी कहा जाता है, क्योंकि यह धर्म का स्थान ग्रहण करता है। बुद्ध ने स्वयं कहा है, 'जो प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञाता है वह धर्म का ज्ञाता है, जो धर्म का ज्ञाता है, वह प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञाता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी बारह कड़ियाँ भूत, वर्तमान और भविष्यत् जीवनो में व्याप्त हैं। अविद्या और संस्कार का सम्बन्ध अतीत जीवन से है। जरामरण और जाति का सम्बन्ध भविष्य जीवन से है और शेष का सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है। अतीत, वर्तमान और भविष्य जीवनो के बीच कारण कार्य श्रृंखला का प्रादुर्भाव हो जाता है। अतीत जीवन वर्तमान जीवन का कारण है और भविष्य जीवन वर्तमान जीवन का कार्य है।

भूत, वर्तमान और भविष्य जीवन की दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद के जो भेद किये गये हैं, उन्हें इस प्रकार प्रकाशित किया जा सकता है—

जिनका सम्बन्ध अतीत जीवन से है (१) अविद्या (२) संस्कार

प्रतीत्यसमुत्पाद के विरुद्ध दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि यदि प्रत्येक निदान का कारण है तब अविद्या का कारण क्या है? बुद्ध दर्शन में इस प्रश्न का हम उत्तर नहीं पाते हैं। बुद्ध ने अविद्या का कारण शायद निरर्थक समझकर नहीं बतलाया। अविद्या को कैसे दूर किया जाय यह बतलाने के बदले बुद्ध की दृष्टि से यह बतलाना कि अविद्या का कारण क्या है, अनावश्यक था। जो कुछ भी कारण हो, परन्तु बुद्ध का मौन रहना दार्शनिक दृष्टिकोण से अमान्य प्रतीत होता है। इन आलोचनाओं से यह निष्कर्ष निकालना कि प्रतीत्यसमुत्पाद महत्त्वहीन है, सर्वथा अनुचित होगा। इसके विपरीत इस सिद्धान्त का बुद्ध के दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान दीख पड़ता है। उनका सारा दर्शन इस सिद्धान्त से प्रभावित हुआ है।

संवृत्ति सत्य पारमार्थिक सत्य को प्राप्त करने का साधन है। संवृत्ति सत्य अविद्या, मोह आदि भी कहलाता है। यह तुच्छ है। संवृत्ति सत्य भी दो प्रकार का होता है जो निम्नांकित है : (१) तथ्य संवृत्ति—यह वह वस्तु या घटना है जो किसी कारण से उत्पन्न होती है। इसे सत्य मानकर सांसारिक लोगों के व्यवहार होते हैं। इस प्रकार यह लोक का सत्य है। (२) मिथ्या संवृत्ति—यह वह घटना है जो कारण से उत्पन्न होती है। परन्तु इसे सभी सत्य नहीं मानते। दूसरे शब्दों में इससे लोगों का व्यवहार नहीं चलता।

पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति निर्वाण में होती है। निर्वाण की अवस्था का वर्णन भावात्मक रूप में सम्भव नहीं है। इसका वर्णन निषेधात्मक रूप से ही हो सकता है। नागार्जुन ने निर्वाण का नकारात्मक वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि जो अज्ञात है, जो नित्य भी नहीं है, जिसका विनाश भी सम्भव नहीं है, उसका नाम निर्वाण है।

माध्यमिक-शून्यवाद का दर्शन शंकर के वेदान्त-अद्वैत से मिलता-जुलता है। नागार्जुन ने दो प्रकार से सत्य-संवृत्ति और पारमार्थिक सत्य-को माना है। शंकर के वेदान्त-दर्शन में संवृत्ति सत्य और पारमार्थिक सत्य के समानान्तर व्यावहारिक सत्य तथा पारमार्थिक सत्य को माना गया है। इन दो प्रकार के सत्यों के अतिरिक्त शंकर प्रतिभासिक सत्य (जिसकी सिर्फ प्रतीति होती है) को भी मानते हैं। नागार्जुन ने सभी विषयों को पारमार्थिक दृष्टिकोण से ही असद् कहा है। शंकर ने भी पारमार्थिक दृष्टिकोण से ईश्वर, जगत् को असद् और माया मान लिया है। माध्यमिक शून्यवाद और

शंकर के दर्शन में जगत् को एक ही धरातल पर रखा गया है। नागार्जुन वस्तु-जगत् को असत्य मानते हैं। शंकर ने भी जगत् को सत्य नहीं माना है। नागार्जुन ने पारमार्थिक सत्य का नकारात्मक वर्णन किया है। शंकर ने भी पारमार्थिक सत्य ब्रह्म का नकारात्मक वर्णन किया है। नागार्जुन का 'शून्य' और शंकर का 'निर्गुण- ब्रह्म' एक दूसरे से बहुत मिलते-जुलते हैं। इन समानताओं के कारण कुछ विद्वानों ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध (उनककीं पद कपेहनपेम) कहा है।

योगाचार-विज्ञानवाद

विश्व की वस्तुएं दृश्य हैं। जिस प्रकार स्वप्न की वस्तुएं दृश्य हैं उसी प्रकार विश्व की वस्तुएं दृश्य हैं। जो दृश्य है वह मिथ्या है, क्योंकि वह अविद्या-कल्पित है। विश्व दृश्य की वस्तु होने के कारण पारमार्थिक दृष्टिकोण से असत्य है।

ब्रह्म जगत् रूपी प्रपंच का अधिष्ठान है जो विवर्त है उसे परमार्थतः सत्य नहीं कहा जा सकता है। अतः विश्व असत्य है। जो परा विद्या से ज्ञात होता है वह सत्य है और जो अपरा विद्या से ज्ञात होता है वह सत्य नहीं है। ब्रह्म परा विद्या से ज्ञात होता है; इसलिए वह सत्य है। जगत् अपरा विद्या का विषय है। इसलिये जगत् मिथ्या है। जिस प्रकार स्वप्न और भ्रम की चीजें मिथ्या होने पर भी सत्य प्रतीत होती हैं वैसे ही यह जगत् परमार्थतः असत्य होते हुए भी सत्य प्रतीत होता है। ब्रह्म परमार्थतः सत्य है। जगत् इसके विपरीत व्यवहारतः सत्य है। अतः जगत् परमार्थतः सत्य नहीं है।

शंकर के अनुसार विश्व का आधार ब्रह्म है। जिसका आधार यथार्थ हो वह अयथार्थ नहीं कहा जा सकता है। जिस प्रकार मिट्टी वास्तविक है उसी प्रकार उसका रूपान्तर भी वास्तविक है। यह जगत् तात्त्विक रूप में ब्रह्म है क्योंकि वह उसके ऊपर आश्रित है। यह जगत् ब्रह्म का प्रतीति रूप है जो सत्य है। नाना रूपात्मक रूप उपस्थित करता है। माया के कारण निष्क्रिय ब्रह्म सक्रिय हो जाता है। माया सहित ब्रह्म ही ईश्वर है।

सांख्य-दर्शन में विश्व की अवस्था के लिये प्रकृति को माना गया है। प्रकृति से ही नानारूपात्मक जगत् की व्याख्या होती है। सम्पूर्ण विश्व प्रकृति का रूपांतरित रूप है। शंकर के दर्शन में माया के आधार पर विश्व की विविधता की व्याख्या की जाती है। माया ही नानारूपात्मक जगत् को उपस्थित करती है। शंकर की माया और सांख्य की प्रकृति में दूसरा साम्य यह है कि माया और प्रकृति दोनों का निर्माण सत्व, रजस् और तमस् गुणों के संयोजन से हो पाया है। शंकर की माया सांख्य की प्रकृति की तरह त्रिगुणात्मक है।

शंकर की माया और सांख्य की प्रकृति में तीसरा साम्य यह है कि दोनों भौतिक और अचेतन हैं। सांख्य की प्रकृति की तरह शंकर की माया भी जड़ है।

शंकर की माया और सांख्य की प्रकृति में चौथा साम्य यह है कि दोनों मोक्ष की प्राप्ति में बाधक प्रतीत होते हैं। पुरुष प्रकृति से भिन्न है। परन्तु अज्ञान के कारण वह प्रकृति से अपनापन का सम्बन्ध उपस्थित कर लेता है। यही बन्धन है। मोक्ष की प्राप्ति तभी हो सकती है जब प्रकृति अपने को पुरुष से भिन्न होने का ज्ञान पा जाय। मोक्ष के लिये पुरुष प्रकृति से पृथक्करण की माँग करता है। शंकर के अनुसार भी मोक्ष की प्राप्ति तभी हो सकती है जब अविद्या का, जो माया का ही दूसरा रूप है, अन्त हो जाय। आत्मा मुक्त है, परन्तु अविद्या के कारण वह बंधन-ग्रस्त हो जाती है। इन विभिन्नताओं के बावजूद माया और प्रकृति में अनेक अंतर हैं।

माया और प्रकृति में पहला अंतर यह है कि माया कोपरतंत्र माना गया है जबकि प्रकृति स्वतंत्र है। माया का आश्रय-स्थान ब्रह्म या जीव होता है। परन्तु प्रकृति को अपने अस्तित्व के लिये किसी दूसरी सत्ता की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती।

माया और प्रकृति में दूसरा भेद यह है कि प्रकृति यथार्थ (तमंस) है जबकि माया अयथार्थ है। सांख्य पुरुष और प्रकृति को यथार्थ मानने के कारण द्वैतवादी कहा जाता है। परन्तु शंकर के दर्शन में ब्रह्म को छोड़कर सभी विषयों को असत्य माना गया है।

माया के कार्य (Functions of Maya) माया के मूलतः दो कार्य हैं।

माया वस्तुओं के वास्तविक रूप को ढँक लेती है। माया के कारण वस्तु पर आवरण पड़ जाता है। जिस प्रकार रस्सी में दिखाई देने वाला साँप रस्सी के वास्तविक स्वरूप पर पर्दा डाल देता है उसी प्रकार माया सत्य पर पर्दा डाल देती है। माया का यह निषेधात्मक कार्य है। माया के इस कार्य को आवरण (Concealment) कहा जाता है। माया का दूसरा कार्य यह है कि वह सत्य के स्थान पर दूसरी वस्तु को उपस्थित करती है। माया सिर्फ रस्सी के वास्तविक स्वरूप को ही नहीं ढक लेती है, बल्कि रस्सी के स्थान पर साँप की प्रतीति भी उपस्थित करती है। माया का यह भावात्मक कार्य है। माया के इस कार्य को विक्षेप (Projection) कहा जाता है। माया अपने निषेधात्मक कार्य के बल पर ब्रह्म को ढक लेती है तथा अपने भावात्मक कार्य के बल पर ब्रह्म के स्थान पर नानारूपात्मक जगत् को प्रस्थापित करती है। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में 'सत्य पर पर्दा डालना और असत्य को प्रस्थापित करना माया के दो कार्य हैं।

जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या के लिये शंकर ने उपमाओं का प्रयोग किया है जिससे भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का निरूपण होता है। जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या के लिये शंकर प्रतिबिम्बवाद का प्रतिपादन करते हैं। जिस प्रकार एक चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जब जल की भिन्न-भिन्न सतहों पर पड़ता है तब जल की स्वच्छता और मलिनता के अनुरूप प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ और मलिन दीख पड़ता है उसी प्रकार एक ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जब अविद्या पर पड़ता है तब अविद्या की प्रकृति के कारण जीव भी विभिन्न आकार-प्रकार का दीख पड़ता है। जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल की विभिन्न सतहों पर पड़ने से वह अनेक चन्द्रमा के रूप में प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अविद्या-रूपी दर्पण पर पड़ने से वह अनेक दीख पड़ता है। प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध आपत्तियाँ उपस्थित की गई हैं। आलोचकों का कथन है कि जब ब्रह्म और अविद्या आकृतिहीन हैं तब ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अविद्या पर कैसे पड़ सकता है। फिर यदि यह मान लिया जाय कि जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है तब यह मानना पड़ेगा कि जीव ब्रह्म से भिन्न है तथा असत्य है। शंकर प्रतिबिम्बवाद की कठिनाइयों से अवगत होकर ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध की व्याख्या के लिये दूसरे सिद्धान्त का सहारा लेते हैं। जिस प्रकार एक ही आकाश, जो सर्वव्यापी है, उपाधिभेद से घटाकाश (घट के बीच का आकाश), मठाकाश रूप में परिलक्षित होता है उसी प्रकार एक ही सर्वव्यापी ब्रह्म अविद्या के कारण उपाधिभेद से अनेक जीवों के रूप में आभासित होता है। इस सिद्धान्त को अवच्छेदवाद (The theory of Limitation) कहा जाता है। यह सिद्धान्त प्रतिबिम्बवाद की अपेक्षा अधिक संगत है। इन सिद्धान्तों के द्वारा बतलाया गया है कि जीव सीमित होने के बावजूद ब्रह्म से अभिन्न है। जो लोग दोनों सिद्धान्तों से सहमत नहीं हो पाते हैं उन्हें शंकर यह कहता है कि जीव अपरिवर्तनशील ब्रह्म है जो अपने स्वरूप के बारे में अनभिज्ञ रहता है।

शंकर का अद्वैत-वेदान्त निरावयव है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक और अविद्या से शून्य है जबकि जीव अविद्या के वशीभूत तुच्छ तथा कमजोर है। चूंकि ईश्वर अविद्या के वशीभूत नहीं है इसलिये वह आनन्दमय है जबकि जीव अविद्या के वशीभूत रहने के फलस्वरूप दुःखमय है। जीव पर अविद्या का सदा प्रभाव रहता है। जीव अविद्या के कारण कर्ता बनता है, पाप और पुण्य में लिप्त होता है, दुःख और सुख भोगता है जबकि ईश्वर इन अनुभूतियों से परे है।

शंकर ने जीव और ईश्वर के सम्बन्ध को बतलाने के लिये मुण्डकोपनिषद् में वर्णित उपमा की और संकेत किया है, जो उल्लेखनीय है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि दो पक्षी जो निरन्तर साथ रहते हैं तथा एक दूसरे के अति निकट

हैं, एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं। उनमें से एक फल को मधुर समझकर बड़े चाव से खाता है और दूसरा बिना खाये सिर्फ देखा करता है। पहला जीव है जबकि दूसरा ईश्वर है। जीव भोगता है जबकि ईश्वर द्रष्टा है। ईश्वर जीव को भोग कराता है। जीव कर्ता है, ईश्वर नियन्ता है।

शंकर के मतानुसार आत्मा का शरीर और मन में अपनापन का सम्बन्ध होना बन्धन है। आत्मा का शरीर के साथ आसक्त हो जाना ही बन्धन है। आत्मा शरीर से भिन्न है फिर भी वह शरीर की अनुभूतियों को निजी अनुभूतियाँ समझने लगती है। जिस प्रकार पिता अपनी प्रिय सन्तान की सफलता और असफलता को निजी सफलता और असफलता समझने लगता है उसी प्रकार आत्मा शरीर के पार्थक्य के ज्ञान के अभाव में शरीर के सुख-दुःख को निजी सुख-दुःख समझने लगती है। यही बन्धन है।

आत्मा स्वभावतः नित्य, शुद्ध, चैतन्य, मुक्त और अविनाशी है। परन्तु अज्ञान के वशीभूत होकर वह बन्धनग्रस्त हो जाती है। जब तक जीव में विद्या का उदय नहीं होगा तब तक वह संसार के दुःखों का सामना करता जायेगा। अविद्या का नाश होने के साथ-ही-साथ जीव के पूर्वसंचित कर्मों का अन्त हो जाता है और इस प्रकार वह दुःखों से छुटकारा पा जाता है।

अविद्या का अन्त ज्ञान से ही सम्भव है। शंकर के अनुसार मोक्ष को अपनाने के लिए ज्ञान अत्यावश्यक है। मोक्ष को प्राप्त करने के लिए कर्म का सहारा लेना व्यर्थ है। मीमांसा के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति कर्म से सम्भव है। परन्तु शंकर के अनुसार कर्म और भक्ति ज्ञान की प्राप्ति में भले ही सहायक हो सकते हैं, वे मोक्ष की प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकते। ज्ञान और कर्म विरोधात्मक हैं। कर्म और ज्ञान अन्धकार और प्रकाश की तरह विरुद्ध स्वभाव वाले हैं। ज्ञान विद्या है जबकि कर्म अविद्या है। मोक्ष का अर्थ है अविद्या को दूर करना। अविद्या केवल विद्या के द्वारा ही दूर हो सकती है। शंकर ने ज्ञान-कर्म समुच्चय को मोक्ष का उपाय नहीं माना है। शंकर ने मात्र एक ज्ञान को ही मोक्ष का उपाय माना है। ज्ञान की प्राप्ति वेदान्त दर्शन के अध्ययन से ही प्राप्त हो सकती है। परन्तु वेदान्त को अध्ययन करने के लिए साधक को साधना की आवश्यकता होती है उसे भिन्न-भिन्न शर्तों का पालन करना पड़ता है, तभी वह वेदान्त का सच्चा अधिकारी बनता है।

योग 'साधन-चतुष्टय' इस प्रकार हैं-

(१) नित्यानित्य-वस्तु-विवेक-साधक को नित्य और अनित्य वस्तुओं में भेद करने का विवेक होना चाहिए । (२) इहामुत्रार्थ-भोग-विराग-साधक को लौकिक और पारलौकिक भोगों की कामना का परित्याग करना चाहिए ।

(३) शमदमादि-साधन-सम्पत्-साधक को शम, दम श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा इन छः साधनों को अपनाना चाहिए। शम का मतलब है 'मन का संयम'। दम का तात्पर्य है 'इन्द्रियों का नियन्त्रण'। शास्त्र के प्रति निष्ठा का होना श्रद्धा कहा जाता है। समाधान, चित्त का ज्ञान के साधन में लगाने को कहा जाता है। उपरति विक्षेपकारी कार्यो से विरत होने को कहा जाता है। सर्दी, गर्मी सहन करने के अभ्यास को तितिक्षा कहा जाता है।

(४) मुमुक्षुत्वं साधक को मोक्ष प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प होना चाहिए । जो साधक इन चार साधनों से युक्त होता है उसे वेदान्त की शिक्षा लेने के लिए एक ऐसे गुरु के चरणों में उपस्थित होना चाहिए जिन्हें ब्रह्म-ज्ञान की अनुभूति प्राप्त हो गयी हो। गुरु के साथ साधक को श्रवण, मनन और निदिध्यासन की प्रणाली का सहारा लेना पड़ता है। गुरु के उपदेशों को सुनने को श्रवण कहा जाता है। उपदेशों पर तार्किक दृष्टि से विचार करने को मनन कहा जाता है। सत्य पर निरन्तर ध्यान रखना निदिध्यासन कहलाता है।

संदर्भित ग्रंथ

1. सिन्हा, एच.पी. (2006)। भारतीय दर्शन की रूपरेखा। मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन।
2. लाल, बी.के. (2009)। समकालीन भारतीय दर्शन स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द, राधाष्णन। मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन।
3. एस शर्मा (1985), लाइफ इन द उपनिषद, आईएसबीएन 978-8170172024, पेज 17-19
4. मैक्स मुलर, उपनिषद, भाग 2, मुंडका उपनिषद, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 34-35